८

आत्म-बोध : सुख का राज-मार्ग

यह विशाल संसार दो तत्त्वों से निर्मित है। सृष्टि का यह विशाल रथ उन्हीं दो चक्कों पर चल रहा है। एक तत्त्व है, चेतन अर्थात् जीव ! और दूसरा तत्त्व है, जड़ अर्थात् अजीव। चेतन तत्त्व अनन्त काल से अपना खेल खेलता चला आ रहा है और जड़ तत्त्व उसका साथी है, जो अनन्त-अनन्त काल से इस खेल में चेतन का साथ देता आया है। इस संसार-नाटक के ये दो ही सूत्रधार हैं। वास्तव में इनकी क्रिया-प्रतिक्रिया और अच्छी-बुरी हलचल का ही नाम संसार है। जिस दिन ये दोनों साथी अलग-अलग बिछुड़ जाएँगे, एक-दूसरे का साथ छोड़ देंगे, उस दिन संसार नाम की कोई वस्तु ही नहीं रहेगी। किन्तु, आज तक कभी ऐसा हुआ नहीं, संभवतः होगा भी नहीं। किसी एक जीव की दृष्टि से भले ही परस्पर सम्बन्ध विच्छेद हुआ है, परन्तु समग्र जीवों की दृष्टि से कभी ऐसा नहीं हुआ और न होगा।

चेतन का बोध :

सामान्य मनुष्य इन दोनों साथियों को अलग-अलग छाँट नहीं सकता। यद्यपि इनके स्वभाव में एकदम विपरीतता है, फिर भी इस प्रकार घुले-मिले रहते हैं कि उनका भेद जानना बड़ा ही कठिन होता है। प्रायः हर व्यक्ति के हर मानस में यह प्रश्न उठा करता है कि—शरीर, इन्द्रिय और मन के पुद्गल पिण्डों में, जो स्वयं भी अनन्तानन्त परमाणु रूप पुद्गल पिण्डों से निर्मित है, उसमें आत्म-तत्त्व का निवास कहाँ है? वह अन्दर-ही-अन्दर क्या करता रहता है? आत्मतत्त्व को समझने के लिए इस प्रश्न का उत्तर जरूरी है। शब्दशास्त्र के माध्यम से इतना पता तो है कि वह आत्मा है। किन्तु मात्र इतने जवाब से तो जिज्ञासा शांत नहीं होती। यह तो मिथ्यात्वी भी जानता है कि शरीर के भीतर एक आत्मा है। कोई उसे रूह, सोल या पुरुष नाम से सम्बोधित करके बतला देते हैं, तो कोई आत्मा कहकर उसका परिचय देते हैं।

जैन शास्त्रों की गहराई में जाने से मालूम होगा कि "मैं" शरीर नहीं, शरीर से भिन्न आत्मा हूँ। किन्तु इतना-सा ज्ञान तो अभव्य को भी रहता है। इस जानकारी के आधार पर तो कोई आत्मज्ञानी नहीं बन सकता। जब इसके आगे की श्रेणी पर चढ़ेंगे, आत्मा और शरीर की भिन्नता का प्रत्यक्ष अवबोध करने की ओर अग्रसर होंगे, तब कहीं कुछ मार्ग मिलेगा।

प्रत्यक्ष और परोक्ष :

प्रारम्भिक साधक को आत्मा और शरीर की भिन्नता की प्रतीति से आत्म-ज्ञान हो जाता है, किन्तु वह प्रत्यक्ष नहीं, बल्कि परोक्षरूप में होता है। इसमें आत्म-ज्ञान की एक अस्पष्ट और धुँधली-सी झाँकी मिलती है और पता चलता है कि अन्तर् में जैसे शरीर से भिन्न कुछ है, किन्तु परोक्ष-बोध स्पष्ट परिबोध नहीं है, अतः आत्म-बोध का पूर्ण आनन्द नहीं प्राप्त होता।

ज्ञान के दो प्रकार हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रत्यक्ष स्पष्ट होता है, और परोक्ष अस्पष्ट। इस सम्बन्ध में प्राचीन दर्शन सूत्र हैं—

"स्पष्टम् प्रत्यक्षम्, अस्पष्टम् परोक्षम्।"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आत्मा बिना किसी अन्य के माध्यम से सीधा ही जो ज्ञेय का परिज्ञान करती है, वह स्पष्ट है, अतः प्रत्यक्ष है। और, जिस ज्ञान के होने में आत्मा और ज्ञेय वस्तु के बीच में सीधा सम्बन्ध न होकर, कोई माध्यम हो, जिसके सहारे ज्ञान प्राप्त किया जा सके, उसे परोक्ष ज्ञान कहते हैं। किसी दृश्य और घटना का अपनी आँखों से साक्षात्कार किया, यह भी एक बोध है, और किसी ने अन्य व्यक्ति से सुनकर या समाचार-पत्रों में पढ़कर उसी दृश्य और घटना की जानकारी प्राप्त की, यह एक अन्य ही बोध है। इस प्रकार ज्ञान तो दोनों ही प्रकार से प्राप्त हुआ है, किन्तु जो साक्षात् बोध अपनी आँखों से देखकर हुआ है, वह कुछ और है, और किसी से सुनकर या पढ़कर जो बोध प्राप्त हुआ है, वह कुछ और है। यदि हमारी आँखों के सामने अग्नि जल रही है, उसमें ज्वालाएँ धधक रही हैं, चिनगारियाँ निकल रही हैं, उसका तेज चमक रहा है, तो यह एक प्रकार से अग्नि का वह ज्ञान हुआ, जिसे हम प्रत्यक्ष या स्पष्ट ज्ञान कहते है। और, कहीं जंगल में से गुजर रहे हों और दूर क्षितिज पर धुआँ उठता हुआ दिखाई देता हो, तो उसे देखकर कह देते हैं कि वहाँ अग्नि जल रही है, यह अग्नि का परोक्ष ज्ञान या अस्पष्ट ज्ञान हुआ। पहले उदाहरण में अग्नि का ज्ञान अपनी आँखों से स्पष्ट और प्रत्यक्ष सामने देखकर हुआ, और दूसरे उदाहरण में धुएँ को देखकर अग्नि का ज्ञान अनुमान के द्वारा हुआ। ज्ञान दोनों ही सच्चे हैं। इनमें किसी को भी असत्य करार नहीं दे सकते, किन्तु ज्ञान के जो ये दो प्रकार हैं, उनके स्वरूप-बोध में स्पष्ट अन्तर है, क्योंकि उनकी प्रतीति एवं पद्धति भिन्न-भिन्न है। दोनों के दो रूप हैं। स्पष्ट अर्थात् प्रत्यक्ष ज्ञान में दृश्य का कुछ और ही रूप दिखाई पड़ता है, जबकि परोक्ष ज्ञान में अर्थात् अनुमान से कुछ दूसरा ही अनुभूति में आता है। पहले ज्ञान में अग्नि और आँख का सीधा सम्बन्ध होता है, जबकि दूसरे ज्ञान में आँख का सम्बन्ध धूम से होता है और पश्चात् धूम से अविनाभावी अग्नि का अनुमान बाँधा जाता है।

ऊपर का विवेचन लौकिक प्रत्यक्ष को लक्ष्य में रखकर किया गया है। सर्वसाधारण जनता में यही प्रत्यक्ष और परोक्ष का स्वरूप है। परन्तु दर्शनशास्त्र की गहराई में जाते हैं, तो यह इन्द्रियजन्य लौकिक प्रत्यक्ष भी वास्तव में परोक्ष ही है। क्योंकि दर्शन में स्पष्टता और अस्पष्टता की परिभाषा लोक प्रचलित नहीं है। दर्शन में तो जो निमित्त-सापेक्ष है, वह अस्पष्ट है और जो निमित्त-निरपेक्ष है, वह स्पष्ट है। अतःमति और श्रुत ज्ञान को शास्त्रकारों ने परोक्ष ज्ञान माना है।

मति और श्रुत :

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परोक्ष ज्ञान हैं। क्योंकि इनसे वस्तु का निमित्त-निरपेक्ष साक्षात् बोध नहीं होता है। मति और श्रुत में आत्मा किसी भी ज्ञेय वस्तु को जानने के लिए इन्द्रिय और मन के निमित्त की सहायता लेती है, आत्मा से ज्ञेय का निमित्त-निरपेक्ष सीधा सम्बन्ध नहीं जुड़ पाता। रूप का ज्ञान आँखों के सहारे से होता है। आत्मा को रूप का ज्ञान तो जरूर हो जाता है, परन्तु उक्त रूप ज्ञान का वह साक्षात् ज्ञाता न होकर आँखों के माध्यम से ज्ञाता होती है। अतः यह रूप का साक्षात्कार प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं, क्योंकि रूप और आत्मा के बीच में आँखों का माध्यम रहता है। इसी प्रकार शब्द ज्ञान के लिए शब्द और आत्मा के बीच भी सीधा सम्बन्ध न होकर, कान के माध्यम से सम्बन्ध होता है। यही बात अन्य इन्द्रियों के सम्बन्ध में भी है। रस का ज्ञान जिह्वा के निमित्त अर्थात् माध्यम से होता है, गन्ध का ज्ञान घ्राण से और शीतादि स्पर्श का ज्ञान स्पर्शन-इन्द्रिय से होता है। और जो मनन, चिंतन तथा शास्त्रों के अध्ययन से ज्ञान होता है, उसमें विशिष्ट रूप से मन निमित्त होता है। यदि आँख और कान आदि इन्द्रियाँ ठीक है और स्वस्थ हैं, तो उन इन्द्रियों के माध्यम से रूप आदि का बोध अनुभूति में आता है, अन्यथा नहीं। यदि इन्द्रियों के माध्यम में कोई विकार या दोष आ जाता है, तो वह रूप आदि का बोध भी अवरुद्ध हो जाता है, एक प्रकार से ज्ञान के द्वार पर ताला लग जाता है। एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय तथा चतुरेन्द्रिय आदि जीवों में जिन-जिन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इन्द्रियों की हीनता होती है, उन्हें उनके माध्यम से होनेवाला ज्ञान भी अनुभूत नहीं हो पाता। इस प्रकार आत्मा स्वयं ज्ञाता होकर भी मन तथा इन्द्रियों के आश्रित रहती है। इसी कारण से मतिज्ञान और श्रुतज्ञान को परोक्ष ज्ञान कहा गया है।

आत्म-बोध : ज्ञान की सही दिशा :

आत्मा का ज्ञान, जो प्रायः सभी साधकों को हो रहा है, वह कौन-सा ज्ञान है? उसके माध्यम में न आँख है, न कान है, न नाक है, न जिह्वा है और न त्वचा है, इस ज्ञान का माध्यम है—मन! आत्मा के सम्बन्ध में शास्त्रों में जो वर्णन आया है, उसे हम पढ़ते हैं, फिर चिन्तन-मनन करते हैं, और तब मन के चिंतन द्वारा आत्मा के अस्तित्व का बोध होता है। यह आत्मा का बोध परोक्ष बोध है, क्योंकि इसमें मन निमित्त है। आत्मा का प्रत्यक्ष बोध तो एकमात्र केवलज्ञान से ही होता है। परन्तु, यह परोक्ष बोध भी कुछ कम महत्त्व का नहीं है। वास्तव में आत्मा का सम्यक्-बोध होना ही, ज्ञान की सही दिशा है, इसी का नाम 'सम्यकत्व' है। इसे हर कोई प्राप्त नहीं कर सकता। यह ज्ञान उसी को होता है, जिसकी मन की चिन्तन क्रिया स्वच्छ, निर्मल एवं विशिष्ट प्रकार की होती है। स्वच्छ निर्मल मनवाला व्यक्ति ही आत्मा के मंदिर में प्रवेश कर सकता है और उसकी झाँकी देख सकता है। हर किसी व्यक्ति के लिए यह संभव नहीं कि वह यों ही राह चलता आत्ममंदिर में प्रवेश कर ले और आत्म-देवता की झाँकी देख ले। इसके लिए विशिष्ट साधना एवं निर्मलता की अपेक्षा रहती है। आत्मा का यह बोध मन के माध्यम से होता है, अतः इसको परोक्ष ज्ञान अर्थात् मतिज्ञान, श्रुतज्ञान कहते हैं। परन्तु, यह परोक्ष बोध आत्मा के प्रत्यक्ष बोध की ओर ले जाता है, आज परोक्ष है, तो वह कभी-न-कभी प्रत्यक्ष भी अवश्य हो जाएगा।

अवधि और मनःपर्याय :

एक प्रश्न है कि गणधर गौतम स्वामी आदि को जो आत्मा का ज्ञान था, वह किस प्रकार का ज्ञान था? क्या उन्हें अवधि और मनःपर्याय ज्ञान से आत्मा का ज्ञान प्राप्त हुआ था? क्या अवधि और मनःपर्याय ज्ञान से आत्मा का बोध हो सकता है?

उत्तर स्पष्ट है कि अवधिज्ञान की पहुँच आत्मा तक नहीं है। उसके निमित्त से तो बाहर के रूपी जड़ पदार्थों का अर्थात् पुद्गलों का ज्ञान ही प्राप्त हो सकता है। आत्मा का ज्ञान नहीं हो सकता। इस अर्थ में तो अवधिज्ञान की अपेक्षा श्रुतज्ञान ही श्रेष्ठ है, ताकि उसके सहारे कम से कम हमें आत्मा का ज्ञान तो प्राप्त होता है। भले ही यह परोक्ष बोध हो, परन्तु आत्मबोध तो होता है। अवधिज्ञान से तो जड़ पुद्गल से भिन्न आत्मा का परोक्ष बोध भी नहीं होता। अवधिज्ञान से संसार भर के जड़ पुद्गल पदार्थों का ज्ञान तो हो जाएगा, किन्तु सम्यक् श्रुतज्ञान से उत्पन्न आत्मबोध के अभाव में वह ज्ञान राग-द्वेष का ही कारण बनेगा। तब राग-द्वेष के विकल्पों के प्रवाह में आत्मा को संभाल कर रोकनेवाला कोई नहीं रहेगा। अवधिज्ञान कोई बुरा नहीं है, किन्तु उस ज्ञान को सही दिशा देने वाला सम्यक्-तत्त्व श्रुतज्ञान ही है। यदि वह नहीं है, तो अवधिज्ञान बुरे रास्ते पर जा सकता है। अवधिज्ञान तो अभंग या विभंग रूप में नारक तथा देवताओं में भी होता है, परन्तु आत्मबोध के अभाव में उनकी भी स्थिति कोई अच्छी नहीं है। जिसे हम स्वर्ग कहते हैं और सुख की कल्पना का एक बहुत बड़ा आधार बनाते हैं, उस स्वर्ग में भी आत्मबोध-शून्य मिथ्यादृष्टि देवताओं में परस्पर विग्रह-चोरी आदि के दुष्कर्म होते रहते हैं। सम्यक्-श्रुत के अभाव में, यह अवधिज्ञान भी अज्ञान ही माना गया है। इससे आत्मा का कोई कल्याण नहीं होता।

मनःपर्यव ज्ञान सम्यक्त्व और साधुत्व के आधार के बिना होता ही नहीं, अतः यह श्रेष्ठ ज्ञान है। परन्तु यह भी आत्मबोध नहीं कर सकता है। इस ज्ञान से अन्य प्राणी के मानसिक विकल्पों का ज्ञान हो जाता है, परन्तु इससे भी क्या लाभ? अपने मन के विकल्पों का जाल ही बहुत विकट है। मन की गति बड़ी विचित्र है। यह इतना शैतान है कि आसानी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से अधिकार में नहीं आ पाता। और, जब उसके ही विकल्प परेशान कर रहे हैं, वही निर्मल नहीं हुआ है, समभाव उसे नहीं छू सका है, तो फिर संसार भर के मन के विकल्पों को जानने का ठेका हम अपने सिर क्यों लें! सम्यक्-बोध के अभाव में उस भार से आत्मा को शान्ति नहीं, अशान्ति ही मिलेगी।

अपना स्वरूप :

मन के ज्ञान की उपलब्धि के पूर्व संसार के राग-द्वेष के विष से मुक्त रहने के लिए वीतराग भाव की आवश्यकता है। यदि वीतराग भाव है, तो मन का ज्ञान भी ठीक है और दूसरे ज्ञान भी ठीक हैं, यदि वह नहीं है, तो कोई भी ज्ञान होगा, वह परेशानी का ही कारण बनेगा। इसीलिए मनःपर्याय ज्ञान और अवधिज्ञान से पहले आत्मबोध कराने वाले सम्यक्-श्रुतज्ञान का नाम आता है।

सम्यक्-श्रुतज्ञान के द्वारा इस बात की जानकारी होती है कि मैं कौन हूँ? मेरा क्या स्वरूप है? और, मेरी जीवन-यात्रा की मंजिल क्या है? शास्त्रों के अध्ययन एवं श्रवण के द्वारा ही साधक को पता लगता है कि शरीर और आत्मा एक नहीं हैं। अतः मैं शरीर नहीं, आत्मा हूँ। आत्मा ही नहीं, शुद्ध आत्मा हूँ, परमात्मा हूँ। मैं अजर-अमर निर्विकार शुद्ध चैतन्य हूँ। साधारणतया आत्मा का बोध अभव्य एवं मिथ्यादृष्टि को भी हो जाता है। किन्तु वह आत्मा के परमात्मभाव का बोध नहीं कर सकता, शुद्ध-स्वरूप का सच्चा श्रद्धान नहीं कर सकता। उसकी धर्म क्रियाओं के पीछे भी सिर्फ भौतिक अभिलाषाएँ, स्वर्ग की प्राप्ति, यश और कीर्ति आदि की आकांक्षाएँ ही अधिक रहती हैं। उसके ज्ञान के पीछे अपने शुद्ध स्वरूप का भान नहीं रहता कि मैं निर्मल निर्विकार ज्ञान स्वरूप आत्मा हूँ, मैं ही परमात्मा हूँ। काम, क्रोध, लोभ आदि मेरे स्वभाव नहीं, बल्कि विभाव हैं। आत्मा का शुद्ध स्वरूप ज्ञान स्वरूप है, शान्ति और सुख का स्वरूप है।

आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करके भी कुछ लोग यह सोचने लग जाते हैं कि "मैं तो पापी हूँ, क्षुद्र हूँ, मेरा कल्याण नहीं हो सकता।" यह अपने शुद्ध मूल स्वरूप की विस्मृति है। वास्तव में स्वर्ण पर चाहे कितनी ही गंदगी डाल दी जाए, मिट्टी की कितनी ही तह पर तह जमा कर दी जाएँ, किन्तु स्वर्ण का मूल स्वरूप कभी भी गंदा नहीं हो सकता। गंदी जगह पर पड़े रहने से जिस प्रकार स्वर्ण पर ऊपर से गंदगी आ जाती है, उसी प्रकार वासना, मोह आदि गंदी विचारधाराओं में गोता लगाने से आत्मा पर भी गंदगी की परतें चढ़ जाती हैं, जिसे देखकर हम सोचने लग जाते हैं, हम तो पापी हैं, अशुद्ध स्वरूप हैं। वास्तव में आज के धार्मिक इन्हीं दुर्बल भावनाओं के शिकार हो रहे हैं, और इसी कारण उनका आत्मबोध का तेज धुँधला पड़ रहा है, उनकी आत्मा की शक्ति क्षीण पड़ रही है। अतः उन्हें साधना का रसास्वाद ठीक तरह नहीं मिल रहा है। एकबार आत्मा की मलिनता का बोध प्राप्त कर लो और फिर बस अब उस मलिनता को दूर करने में जुट जाओ। हर क्षण मलिनता का रोना रोने से क्या लाभ है? मलिनता रोने के लिए नहीं, समझ पूर्वक दृढ़ता से दूर करने के लिए है।

जैसा चाहो, वैसा बनो :

जैन-दर्शन इस बात पर विश्वास करता है कि आत्मा जैसा चिंतन-मनन करेगी, जिन लेश्या और योगों में वर्तन करेगी, वैसी ही बन जाएगी। यदि आप के मनोयोग शुद्ध और पवित्र रहते हैं, आपकी भाव-धाराएँ—लेश्याएँ प्रशस्त रहती हैं, तो कोई कारण नहीं कि आप गंदे और निकृष्ट बनें। संस्कृत में एक सूक्ति है—**"यद् ध्यायति, तद् भवती"** प्राणी जैसा सोचता है, वैसा ही बन जाता है। जो प्राणी रातदिन पाप ही पाप के विचारों में पड़ा रहेगा, वह पापी बन जाएगा और जो अपने शुद्ध और निर्मल स्वरूप का चिंतन करेगा, वह उस ओर प्रगति करता जाएगा। आत्मा का जो मूल स्वरूप है, उसमें तो कभी कोई परिवर्तन नहीं आ सकता, उसके भीतर में तो कभी अपवित्रता का कोई दाग नहीं बैठ सकता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जो अपवित्रता है, जो गंदगी है, वह सिर्फ ऊपर की है। अनन्तानन्त-काल बीत गया, किन्तु अब तक उसी गन्दगी में पड़ी आत्मा अपना स्वरूप भूलती रही है, और संसार का चक्कर काटती रही है। अब अपने शुद्ध स्वरूप का चिन्तन करके, उसे प्रकट करने का प्रयत्न करना चाहिए। देह, इन्द्रिय, मन तथा काम-क्रोध आदि विकारों की तह के नीचे छिपे उस आत्म रूपी स्वर्ण को अलग निखारना चाहिए। यही सम्यक्त्व है, यही परम-ज्ञान है और यही उस अनन्त प्रकाश और अनन्त सुख का राज-मार्ग है।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है—"सुख आत्मा की निर्वेद-निःस्पृह अवस्था है। सुख, शरीर को कभी भी प्राप्त नहीं होता, बल्कि आत्मा में अनुभूत होता है।" अतः यथार्थ आत्म-सुख एवं शाश्वत आत्मानन्द का वास्तविक परिज्ञान करने के लिए, उसका प्रशस्त-पथ, उसका राज-मार्ग है—आत्मा को क्रोध, मान, माया और लोभ रूप कषायों के मल से दूर कर, नव विकसित सौरभमय पुष्प-पंखुड़ी की तरह खिला पाना है, अन्य कुछ नहीं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org